



वैश्वीकरण की विनाशकारी अवधारणा पर चोट करता आदिवासी महिला

सौरभ कुमार यादव

पीएच.डी. हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली भारत

प्रस्तावना

वैश्वीकरण, एक ऐसी अवधारणा जिसमें स्थानीय वस्तुओं, उत्पादों और साथ ही व्यक्तियों, वातावरण और परिवेश को भी एक मानक वैश्विक स्वरूप में ढालने का प्रयास किया जाता है। हो सकता है कि आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत लाभ हुए हों इस अवधारणा के, किन्तु इस प्रक्रिया के दूरगामी परिणाम ज्यादातर हानिकारक ही रहे। ब्रिटेन के द्वारा दुनिया भर के देशों में अपने उपनिवेश बनाए जाने के बाद उसे एक वैश्वीकृत साम्राज्य का दर्जा मिला। ब्रिटेन की आर्थिक महत्वाकांक्षाएँ बढ़ने के साथ ही उसने दुनिया भर के देशों से के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये, बहुत से देशों पर अपना राज्य स्थापित किया वहाँ के निवासियों को गुलाम बनाया और फिर अपने औद्योगिक उत्पादों को उत्कृष्ट बता कर गुलाम देश के लोगों को 'सभ्य' बनाने के लिए उन्हें अपने उत्पाद बेचे। अब दुनिया के हर गुलाम देशों के बाजार यूरोपीय उत्पादों से पट गए और सिर्फ वही लोग सभ्य माने गए जो इन यूरोपीय उत्पादों का उपयोग कर रहे थे। अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद अमेरिका भी यूरोप के साथ औद्योगिक होड़ में शामिल हो गया। वक्त बीतने के साथ ब्रिटिश साम्राज्य का तो सूरज अस्त हो गया लेकिन उसके फैलाए पूंजीवादी जाल का विस्तार दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा था। यूरोप-अमेरिका ने अपनी वस्तुएं, अपनी संस्कृति को दुनिया भर में आर्थिक लाभ कमाने के लिए फैलाने का एक नया हथकंडा अपना "पूरी दुनिया को एक गाँव बन जाना चाहिए".....और इस ग्लोबल गाँव के ऐसे सबजबाग सजाए कि बस पूरी दुनिया उसकी चमक में चौंधिया गयी कि बस अप पूरी दुनिया के लोग एक गाँव के निवासी हो जाएँगे, एक जैसा खाए-पहनंगे और समृद्धि आएगी साथ समानता लाएगी। लेकिन इस 'ग्लोबल गाँव' के बसने के पीछे की असल मंशा थी कि - यूरोप-अमरीका जो बेचे वही सब खाओ पहनों, उनकी भाषा बोलो, उन्हीं के जैसा दिखने का प्रयास करो, सूट-बूट पहन के जेंटल मैन बनो भले तुम विषुवतीय प्रदेश के निवासी हो, चमड़ी गोरी बनाने के लिए उनके सौन्दर्य उत्पाद खरीदो और बन जाओ उनके जैसे(नकली यूरोपी-अमेरिकी)। यूरोप या अमरीका जैसा खान-पाना, भाषा-व्यवहार, पर्यावरण-परिवेश बना लेने के क्रम किया गये प्रयास के लिए 'ओं वर्ड सबस्टीट्यूशन' बना 'वैश्वीकरण' जिसे आज-कल हम 'आधुनिक' और 'विकसित' कहना भी पसंद करते हैं। असल में ये अवधारणा प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध और बे रोक-टोक प्रयोग को प्रत्साहन देने वाली अवधारणा है जो कि एक महाविनाश को आमंत्रित कर चुकी है। इस सन्दर्भ में जेरेमी ग्रेंथम कहते हैं कि- "सभी संसाधनों के अंधाधुंध उपयोग से हमारी ग्लोबल अर्थव्यवस्थाएँ ऐसे कई संकेत दर्शा रही हैं जिनके कारण हमसे पहले कई सभ्यताएँ धराशायी हो चुकी हैं।"

लेकिन इस वैश्वीकरण ने जो विकास किया किया उसका परिणाम यह निकला कि दुनिया भर में जैविक और सांस्कृतिक विविधता का हास हो रहा है। आज ना हमारे पास सांस लेने लायक हवा रह गई है ना पीने लायक पानी। हजारों हजार नई बीमारियाँ पैदा हो चुकी हैं जिनका इलाज आम लोगों के लिए चाँद पर जाने जैसा है। और सबसे ज्यादा क्षति इस 'ग्लोबल गाँव' ने आदिवासी-जनजातीय समुदायों को पहुंचाई है। आदिवासी समुदाय आदिकाल से वनों-जंगलों में रहते आ रहे हैं और

प्रकृति को न्यूनतम क्षति पहुंचा कर वे प्राकृतिक उत्पादों पर अपना जीवन यापन करते हैं। वे हमेशा से प्रकृति के सबसे नजदीक और प्रकृति संरक्षक बन कर रहते रहे। पहले के समयों में गैर-आदिवासियों ने भी इनकी संस्कृति या जीवन पद्धति को नष्ट करने का वैसा प्रयास नहीं किया जैसा कि इस आधुनिक पूंजीवादी युग में और ग्लोबल गाँव ने। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम देख सकते हैं कि गुलाम भारत में आदिवासियों के कई सशक्त विद्रोह हुए अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी आदिवासी नायकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

साहित्य के क्षेत्र में भी आदिवासी साहित्यकारों ने इस आधुनिक वैश्वीकृत दोहन का पूर-जोर विरोध किया। इस पर्चे का केन्द्रीय विषय 'वैश्वीकरण की विनाशकारी अवधारणा पर चोट करता आदिवासी महिला लेखन' अतः हम यहाँ विशेष रूप से आदिवासी महिलाओं के लेखन के माध्यम से वैश्वीकरण के दुष्परिणामों को समझने का प्रयास करेंगे।

वैश्वीकरण की अवधारणा के माध्यम से जो तथाकथित विकास मानक बनाए गए हैं, आज हर देश और अर्थव्यवस्था उसके दूरगामी परिणामों की चिंता किये बैगैर उन मानकों को पूरा कर स्वयं को 'विकसित' या कम से कम 'विकासशील' की श्रेणी में दर्ज करा लेने की होड़ लगाए है। इन लूट-खसोट और विनाशक विकास प्रक्रियाओं को आइना दिखाते हुए जानी-मानी आदिवासी लेखिका महुआ माझी जी ने अपने चर्चित उपन्यास मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ में कहा है कि- "तुम विकसित लोगों के पास बेशक विकास के अलग-अलग मॉडल हैं मगर हमें पूरा यकीन है कि विकास का आदिवासी मॉडल ही इस धरत को बचा सकता है। वरना इस धरती पर हिमयुग आने में देर नहीं लगेगी।"²

आदिवासी क्षेत्रों में खनिजों के दोहन के लिए जो तकनीक अपनाई जाती है वो उस क्षेत्र की भूमि वातावरण और लोगों के स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक होते हैं, उदाहरण स्वरूप हम झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों में यूरैनियम खनन के दुष्परिणामों को देख सकते हैं मगर आज वो मुख्य दुनिया जो पर्यावरण संरक्षण और मानवता की पैरोकार बनी फिर रही उसीकी अर्थव्यवस्थाएँ ऐसे कृत्यों को अमानवीय नहीं बल्कि 'विकास' कहती हैं। आदिवासी क्षेत्रों की भूमि को इन दोहों का इतना खामियाजा भुगतना पड़ा कि वहाँ की पारम्परिक फसलों की पैदावार कम हो गई। सावित्री बड़ाईक लिखती हैं कि-

"महुआ....

सदियों से हर बरस

कम हो रही है उनकी उम्र

क्योंकि बढ़ रही है कुछ लोगों की

अतिशय मुनाफ़ा की आकांक्षा"³

वैश्वीकरण और पूंजीवाद के इस युग में जहाँ एक ओर अमीर तबका है जो कि सत्ता, शासन और संसाधन हर जग अपनी जकड़ बनाए हुए है और उनका मनमाना उपभोग कर रहा है वहीं दूसरी ओर है आर्थिक तंगी और तथाकथित विकास की मार झेल

रहा संसाधनों विहीन तबका जिसके तमाम हक़ और जीवन जीने तक का अधिकार विकास के नाम गिरवी रखवा लिए गए हैं, उसके पास मुह धोने तक का पानी नहीं है कि वो दिन भर की मेहनत मजदूरी के बाद शरीर पर लगी धूल तक को साफ़ कर सके वहीं साधन संपन्न मात्र सजावट के लिए फव्वारे लगा कर सैकड़ों लीटर पानी भेदते हैं. प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल जी की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं-

".....उन जगमगाती रोशनियों से दूर
शहर के आखिरी छोर पर झुग्गी-झोपडियाँ हैं
जहाँ टिमटिमाते हुए कुछ दिए जल रहे हैं
दिए की लौ लगातार लड़ रही है अँधेरो से
और अँधेरा है कि भागने का नाम नहीं ले रहा है
अँधेरो से घिरी झोपडियों में बैठा आदमी
देख रहा है दिए को अँधेरे से लड़ते." !!⁴

आदिवासी समाज से समेकित विकास की अवधारणा का पोषक रहा है और अपने हक़ के लिए वो लड़ना भी जानता रहा है. आदिवासी समाज के लोग किसी बाहरी थोपे हुए विकास मॉडल का अंधानुकरण ना कर के वो अपनी परिस्थितियों एवं प्रकृति के अनुकूल विकास मॉडल को अपनाते हैं उसकी गति भले ही धीमी हो किन्तु वो विनाशक कतई नहीं है, लेकिन आज के इस वैश्वीकृत विकास मॉडल ने प्रकृति के तमाम नियमों का उल्लंघन किया है और अपनी स्वार्थ परता में धरती और उस पर रहने वाले तमाम जीव-जन्तुओं का जीवन दूधर बना रखा है, ऐसी परिस्थिति से व्यथित हो रेशमा हंसदा कह उठती हैं कि- "...क्या हुआ पहाड़ को गिट्टियाँ बनाने से."⁵ रेशमा हंसदा जी अपनी कविता 'जंगल का गीत' में आदिवासी समाज, जिसे के लोग बर्बर और अविकसित की श्रेणी में रखते हैं, और तथाकथित विकसित गैर-आदिवासी समाजों को दो तरह के जंगल कहा और दोनों जंगलों में फर्क बताते हुए लिखा है कि-

" यह गीत जंगल का है
जहाँ पेड़ खुद उगते हैं
खुद मिट कर
अपनी धरती को
उर्वरा कर जाते हैं
शहरी जंगल शहर में उगता है
कंक्रीट का, ईंट का, बालू का, सीमेंट का
जो लील लेता है अपनी ही धरती की उर्वरा
मौसम, पेड़, पौधे और
वहाँ के आदमी से आदमीयत"⁶

वैश्वीकृत गाँव में आम-इमली-महुआ सब से ग्रामीण आदिवासियों का अधिकार छीन कर सरकारें प्राइवेट पूंजीपति कम्पनियों को सौंप देती हैं और वे फिर ग्रामीणों के ही उत्पाद सुन्दर चमकदार पैकेटों में सजा कर मल्टी स्टोर्स में बेचते हैं और गाँव-ज्वार के लोग हाथ में दाम ना होने से अपनी ही चीजें खानों को तरसते हैं. नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बना कर उन्हें निचोड़ लिया जाता है जिससे आस-पास के क्षेत्रों में सिंचाई से लेकर पीने तक के पानी की किल्लत हो जाती है और फिर आती पानी की वैश्वीकृत कम्पनियाँ जो बोटलबंद पानी बेचना शुरू करती हैं. निर्मला पुतुल जी कहती हैं कि-

" अब जबकि गुलदस्ते की जगह
सम्मेलनों में हमारे टेबुलों पर बेसलरी-बोटलें सजती हैं

न चाहते हुए भी पानी पी-पीकर बोलना पड़ता है
अपने इलाके के सूखे स्रोतों पर"⁷

जबकि ऐसे ग्लोबल गाँव की संस्कृति से बिलकुल उल्ट है आदिवासी संस्कृति जो की अपना धर्म ही मानती है कि- "किसी के पेट में दो कौर अन्न पहुंचाना और सूखे कंठ को तर करना ही हमारा धर्म है"⁸. आदिवासी महिला लेखिकाओं ने ना सिर्फ पूंजीवादी लूट का विरोध किया बल्कि उन्होंने गैर-आदिवासी समुदायों द्वारा आदिवासियों के साथ किये गए छल का भी विरोध किया और उन गैर-आदिवासी आन्दोलनकारियों का भी जो कि आदिवासियों की समस्याओं को जाने समझे बिना ही सिर्फ अपना उल्लू सीधा करने के लिए आदिवासियों के नेता या नेत्री बन जाते हैं और आदिवासी समुदाय को या तो महिमामंडित कर उन्हें देव तुल्य बनाने का प्रयास करते हैं या तो फिर घडियाली आँसू बहा कर आदिवासियों को अत्यंत दीन-हीन साबित करने लग जाते हैं. आदिवासी लेखिका निर्मला पुतुल जी अपने समाज को ऐसे धूर्तों से आगाह करते हुए कहती हैं कि-

"वे दबे-पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं
वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे पढ़ते हैं
वे कौन हैं.....?"

सौदागर हैं वे...समझो...."⁹

आदिवासी महिलाओं का लेखन अन्य अस्मितावादी विमर्शों या स्त्रीवादी विमर्शों से इस प्रकार भिन्न होता है कि वे अपने लेखन में सिर्फ नारी मुक्ति का प्रश्न नहीं उठाती बल्कि उनकी दृष्टि शोषण और दोहनकारी हर नुस्ते पर जाति है. वैश्वीकरण, पूंजीवादी और अंधाधुंध औद्योगीकरण से दुष्प्रभावित हुए हर पहलू पर उनकी नजर जाती है और वो सबके साथ एक समतावादी समाज की स्थापना की पैरोकार बनती हैं जिसमें में आदिवासी मोर्चों के साथ-साथ, जाति, लिंग, वर्ग, पर्यावरण, प्रकृति के लिए भी लड़ती हैं. तमाम मुश्किलताओं के बाद भी वे अपनी आदिवासियत के जीवट को बचा कर रखती हैं, लेकिन साथ ही वे अपने समाज के भीतर की महिलाओं को लेकर गैर-बराबरी की धारणा को भी उजागर करने से पीछे नहीं हटती. प्राचीन काल से आज तक आदिवासी समाज पूरी दुनिया में अपनी जगह बनाए हुए कायम है तो इस का कारण इस समाज का अभूतपूर्व जीवट और प्रकृति से सामीप्य है. जबकि मुख्य धारा के ग्यानीजन आए दिन ये घोषणा करते रहते हैं कि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं और आदिवासी समाज संकट में है. लेकिन आदिवासी समाज को सुरक्षित और संरक्षित रखने के लिए वास्तव में मुख्य धारा के समाज के द्वारा कोई उल्लेखनीय पहल नहीं की गई. मगर आदिवासी समाज हर परिस्थिति और प्रतिकूलता में स्वयं को बचा पाने में सक्षम है. वन्दना टेटे जी की कविता का यहाँ उल्लेख करना उचित है कि-

फिर भी हम
जो उनकी झूठी भविष्यवाणियों में
उनके विकास के नक्षों में
कई सदी पहले ही
'एक्सटिक्ट' और विलोपित हो चुके हैं
चांद तारों की तरह टिमटिमा रहे हैं
क्योंकि सच सूरज है
क्योंकि महज कृत्रिम सत्ता के जोर पर
कोई रंगहीन मनुष्य नहीं हो जाता

अंतहीन अपार रंगबिरंगी सृष्टि का मालिक
और इस ग्रह के जीव-जंतुओं का भविष्यवक्ता." ¹⁰

सन्दर्भ सूची

1. समवेत, अंक जुलाई 2014, पृष्ठ. 24
2. मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माझी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2012, पृष्ठ.-401
3. आदिवासी साप्ताहिक, अंक-100, अप्रैल-2017, पृष्ठ.-4
4. जगमगाती रोशनियों से दूर, निर्मला पुतुल, <http://kavitakosh.org>
5. आदिवासी साप्ताहिक, अंक-100, अप्रैल-2017, पृष्ठ.-14
6. वही
7. जब गुलदस्तों की जगह पानी की बोटलें सजने लगीं, निर्मला पुतुल, <http://kavitakosh.org>
8. रमोणी, कहानी, रोज केरकेट्टा, आदिवासी साप्ताहिक, अंक-100, अप्रैल-2017, पृष्ठ-7
9. और फिर, निर्मला पुतुल, <http://kavitakosh.org>
10. <https://www.facebook.com/AdivasiLiterature/posts/694134084114113>